कितनी नावों में कितनी बार

कितनी नावों में कितनी बार 'अज्ञेय' की १९६२ से १९६६ के बीच रचित कविताओं का संकलन है। यों तो अज्ञेय की कविताओं के किसी भी संग्रह के लिए कहा जा सकता है कि वह उनकी जीवन-दृष्टि का परिचायक है, किन्तु प्रस्तुत संग्रह इस रूप में विशिष्ट है कि अज्ञेय की सतत सत्य-सन्धानी दृष्टि की अटूट, खरी अनुभूति की टंकार इस में मुख्य रूप से गूंजती है :

क्यों कि जीवानुभूति
बिजली-सी त्वरग अमोघ एक पंजा है
बलिष्ठ
एक जाल निर्वारणीय !
अनुभूति से तो
कभी, कहीं, कुछ नहीं
बच के निकलता !

कितनी नावों में कितनी बार में अज्ञेय ने एक बार फिर अपनी अखण्ड मानव-आस्था को भारतीयता के नाम से प्रचलित अवाक् रहस्य-वादिता से वैसे ही दूर रखा है जैसे प्रगल्भ आधुनिक अनास्था के साँचे से वह उसे हमेशा दूर रखता रहा है। जिस कविता से संकलन का शीर्षक लिया गया है उसका आरम्भ है--

कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति !
कभी कुहासे में तुम्हें न देखता भी
पर कुहासे की छोटी-सी रुपहली झलमल में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभा-मण्डल
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त—
ओ मेरे अनबुझे सत्य ! कितनी बार...

(शेष दूसरे फ्लैप पर)

Purchased at Delhi
Feb. March - 1987

कितनी नावों में कितनी बार

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
तथा लोक - हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

●

ज्ञानपीठ साहित्य पुरस्कार से सम्मानित

कितनी नावों में कितनी बार

[१९६२-६६ की कविताएँ]

'अज्ञेय'

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक २४५

कितनी नावों में कितनी बार

(कविता)

'अज्ञेय'

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया,

लोधी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

पाँचवाँ संस्करण : १९८६

मूल्य : अठारह रुपये

मुद्रक

जुगनू ऑफसेट प्रेस,

नवीन शाहदरा दिल्ली-११००३२

KITNI NAVON MEN KITNI BAAR (Poems) by 'Ajneya'. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-110003. Printed At Jugnu offset Press, Naveen Shahdara, Delhi—110032. 5th Edition. Price : Rs. 18/-

वत्सला बड़ी बहन
शीलवती जी को

'अज्ञेय' की अन्य काव्य-रचनाएँ

भग्नदूत (१९३३) : अप्राप्य
चिन्ता (१९४२) :
इत्यलम् (१९४६) : अप्राप्य
हरी घास पर क्षण भर (१९४९) अप्राप्य
बावरा अहेरी (१९५४)
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (१९५७)
अरी ओ करुणा प्रभामय (१९५९)
आँगन के पार द्वार (१९६१)
पूर्वा ('इत्यलम्' और 'हरी घास पर क्षण भर') (१९६५)
क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (१९६९)
सागर मुद्रा (१९७१)
महावृक्ष के नीचे (१९७२)
पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (१९७६)

भूमिका

(द्वितीय संस्करण से)

प्रस्तुत संकलन का यह दूसरा संस्करण है।

कविताओं के किसी भी संग्रह का पुनर्मुद्रण सुखद विस्मय का कारण होता है, और कवि के लिए तो और भी अधिक। मेरी तो यही धारणा थी कि **कितनी नावों में कितनी बार** के लोकप्रिय होने की संभावना बहुत कम है, यद्यपि उस में कुछ कविताएँ ऐसी अवश्य हैं जिन्हें मैं अपनी जीवन-दृष्टि के मूल स्वर के अत्यन्त निकट पाता हूँ। इस बात को यों भी कहा जा सकता है—और कदाचित् इसी तरह कहना ज्यादा सही होगा—कि उस जीवन-दृष्टि के ही लोकप्रिय होने की संभावना बहुत कम है ! यह इसलिए नहीं कि उस में सच्चाई या गहराई की कमी है, बल्कि इसलिए कि हमारे समाज की अद्यतन प्रवृत्तियाँ उन मूल्यों को महत्त्व नहीं देती हैं जो इस दृष्टि का आधार हैं। जो मूल्य दृष्टि भौतिक जीवन की बाहरी सुख-सुविधा और सुरक्षा को गौण स्थान देती हुई लगातार एक सूक्ष्मतर कसौटी पर बल देना आवश्यक समझे, जो इससे भी न घबराये कि जीवन की प्रवृतियों और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति ऐसा परीक्षणभाव सफलता की खोज को ही जोखम में डाल सकता है, वह 'लोकप्रिय' नहीं हो सकती, भले ही थोड़े से लोग उसे महत्त्व देते रहें, बल्कि उससे प्रेरणा भी पाते रहें।

यों यह मैं जानता हूँ कि इस संग्रह का दूसरा संस्करण लोकप्रियता का मान-दंड नहीं है। काफ़ी लम्बे अन्तराल के बाद दूसरे संस्करण की नौबत आयी है, यहाँ तक कि उसके लिए पांडुलिपि तैयार करते हुए मुझे मानों नये सिरे से उसकी रच-नाओं से परिचय प्राप्त करना पड़ा है ! और यह तो है ही कि इस संग्रह पर ज्ञान-पीठ पुरस्कार दिए जाने की घोषणा से लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ है जो यों शायद कविता में भी विशेष रुचि न रखते हों। सच कहूँ तो स्वयं मुझे पुरस्कार की घोषणा से आश्चर्य हुआ और मैंने एक बार पुस्तक उलट-पुलट कर देखी—इस कुतूहल से कि इसमें कौन-सी बात हो सकती है जो पुरस्कार के निर्णा-यकों को प्रभावित करे !

इस बात को स्वीकार करने का आशय यह नहीं है कि पाठक कविताओं को उन के आत्यन्तिक मूल्य की दृष्टि से न देखें—मैं ऊपर कह ही चुका कि इनमें से कई कविताएँ उस जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त करती हैं जो आज भी मेरे कर्म-जीवन की प्रेरणा है। पाठक से मेरा यही अनुरोध होगा कि वे इन कविताओं को पढ़ें, उनका आस्वादन करें और उनके मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त हों, तो यही बात ध्यान में रखें। पुस्तक पुरस्कृत हुई इससे एक हद तक—लेकिन एक हद तक ही—यह परिणाम निकाला जा सकता है कि शायद उस जीवन-दृष्टि को भी कुछ अधिकारी अथवा पारखी समीक्षकों का अनुमोदन मिला है और यह कौन नहीं चाहेगा—कवि अथवा काव्य-रसिक—कि जो उसे अच्छा लगता है उसे ऐसे व्यक्तियों का भी अनुमोदन प्राप्त हो!

कविताएँ आपके सामने हैं। इससे आगे वे ही प्रासंगिक हैं—कवि नहीं।

अक्षय तृतीया, सं० २०३६ —'अज्ञेय'

क्रम

कितनी नावों में कितनी बार

उधार

सवेरे उठा तो धूप खिल कर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी।
मैंने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार ?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी ?
मैंने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी—
तिनके की नोक-भर ?
शंखपुष्पी से पूछा : उजास दोगी—
किरण की ओक-भर ?
मैंने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन—बस एक प्रश्वास,
लहर से : एक रोम की सिहरन-भर उल्लास।
मैंने आकाश से माँगी
आँख की झपकी-भर असीमता—उधार।

सब से उधार माँगा, सब ने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन—
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,
गन्धवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का :
ये सब उधार पाये हुए द्रव्य।

रात के अकेले अन्धकार में
सपने से जागा जिस में
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर
मुझ से पूछा था : "क्यों जी,
तुम्हारे इस जीवन के
इतने विविध अनुभव हैं
इतने तुम धनी हो,
तो मुझे थोड़ा प्यार दोगे—उधार—जिसे मैं
सौ-गुने सूद के साथ लौटाऊँगा—
और वह भी सौ-सौ बार गिन के—
जब-जब मैं आऊँगा ?"

मैंने कहा : प्यार ? उधार ?
स्वर अचकचाया था, क्योंकि मेरे
अनुभव से परे था ऐसा व्यवहार ।
उस अनदेखे अरूप ने कहा : "हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं—
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट
आर्त अननुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय
विरह-व्यथा,
यह अन्धकार में जाग कर सहसा पहचानना
कि जो मेरा है वही ममेतर है ।
यह सब तुम्हारे पास है
तो थोड़ा मुझे दे दो—उधार—इस एक बार—
मुझे जो चरम आवश्यकता है ।

उसने यह कहा,
पर रात के घुप अँधेरे में
मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ :
अनदेखे अरूप को
उधार देते मैं डरता हूँ :
क्या जाने
यह याचक कौन है !

सन्ध्या-संकल्प

यह सूरज का जपा-फूल
नैवेद्य चढ़ चला
सागर-हाथों
अम्बा तिमिरमयी को :
रुको साँस-भर,
फिर मैं यह पूजा-क्षण
तुम को दे दूँगा।

क्षण अमोघ है, इतना मैंने
पहले भी पहचाना है
इस लिए साँझ को नश्वरता से नहीं बाँधता।
किन्तु दान भी है अमोघ, अनिवार्य,
धर्म :
यह लोकालय में
धीरे-धीरे जान रहा हूँ
(अनुभव के सोपान !)
और
दान वह मेरा एक तुम्हीं को है।
यह एकोन्मुख तिरोभाव—
इतना-भर मेरा एकान्त निजी है—
मेरा अर्जित :
वही दे रहा हूँ

ओ मेरे राग-सत्य !
मैं
तुम्हें।

ऐसे तो हैं अनेक
जिन के द्वारा
मैं जिया गया;
ऐसा है बहुत
जिसे मैं दिया गया।
यह इतना
मैंने दिया।
अल्प यह लय-क्षण
मैंने जिया।

आह, यह विस्मय !
उसे तुम्हें दे सकता हूँ मैं।
उसे दिया।
इस पूजा-क्षण में
सहज, स्वतः प्रेरित
मैंने संकल्प किया।

६ मार्च १९६३

प्रातः संकल्प

ओ आस्था के अरुण !
हाँक ला
उस ज्वलन्त के घोड़े।
खूँद डालने दे
तीखी आलोक-कशा के तले तिलमिलाते पैरों को
नभ का कच्चा आँगन !

बढ़ आ, जयी !
सँभाल चक्रमण्डल यह अपना।

मैं कहीं दूर :
मैं बँधा नहीं हूँ
झुकूं, डरूँ,
दूर्वा की पत्ती-सा
नतमस्तक करूँ प्रतीक्षा
झंझा सिर पर से निकल जाय !
मैं अनवरुद्ध, अप्रतिहत, शुचस्नात हूँ :
तेरे आवाहन से पहले ही
मैं अपने को लुटा चुका हूँ :
अपना नहीं रहा मैं
और नहीं रहने की यह बोधभूमि
तेरी सत्ता से, सार्वभौम ! है परे,

सर्वदा परे रहेगी।
'एक मैं नहीं हूँ'—
अस्ति दूसरी इस से बड़ी नहीं है कोई।

इस मर्यादातीत
अधर के अन्तरीप पर खड़ा हुआ मैं
आवाहन करता हूँ :
आओ, भाई !
राजा जिस के होंगे, होंगे :
मैं तो नित्य उसी का हूँ जिस को
स्वेच्छा से दिया जा चुका !

७ मार्च १९६३

कितनी नावों में कितनी बार

कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठ कर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति !
कभी कुहासे में तुम्हें न देखता भी
पर कुहासे की ही छोटी-सी रुपहली झलमल में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभा-मण्डल ।
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त—
ओ मेरे अनबुझे सत्य ! कितनी बार···

और कितनी बार कितने जगमग जहाज
मुझे खींच कर ले गये हैं कितनी दूर
किन पराये देशों की बेदर्द हवाओं में
जहाँ नंगे अँधेरों को
और भी उघाड़ता रहता है
एक नंगा, तीखा, निर्मम प्रकाश—
जिस में कोई प्रभा-मण्डल नहीं बनते
केवल चौंधियाते हैं तथ्य, तथ्य—तथ्य—
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ···
कितनी बार मुझे
खिन्न, विकल, संत्रस्त—
कितनी बार !

यह इतनी बड़ी अनजानी दुनिया

यह इतनी बड़ी अनजानी दुनिया है
कि होती जाती है,
यह छोटा-सा जाना हुआ क्षण है
कि हो कर नहीं देता;
यह मैं हूँ
कि जिस में अविराम भीड़ें रूप लेती
उमड़ती आती हैं,
यह भीड़ है
कि उस में मैं बराबर मिटता हुआ
डूबता जाता हूँ;
ये पहचानें हैं
जिन से मैं अपने को जोड़ नहीं पाता
ये अजनबियतें हैं
जिन्हें मैं छोड़ नहीं पाता।

मेरे भीतर एक सपना है
जिसे मैं देखता हूँ कि जो मुझे देखता है, मैं नहीं जान पाता।
यानी कि सपना मेरा है या मैं सपने का
इतना भी नहीं पहचान पाता।

और यह बाहर जो ठोस है
(जो मेरे बाहर है या कि जिस के मैं बाहर हूँ?)

मुझे ऐसा निश्चय है कि वह है, है;
जिसे कहने लगूं तो
यह कह आता है
कि ऐसा है कि मुझे निश्चय है !

निरस्त्र

कुहरा था,
सागर पर सन्नाटा था :
पंछी चुप थे ।
महाराशि से कटा हुआ
थोड़ा-सा जल
बन्दी हो
चट्टानों के बीच एक गढ़िया में
निश्चल था—
पारदर्श ।

प्रस्तर-चुम्बी
बहुरंगी
उद्भिज-समूह के बीच
मुझे सहसा दीखा
केंकड़ा एक :
आँखें ठण्डी
निष्प्रभ
निष्कौतूहल
निर्निमेष ।

जाने
मुझ में कौतुक जागा

या उस प्रसृत सन्नाटे में
अपना रहस्य यों खोल
आँख-भर तक लेने का साहस;
मैंने पूछा : क्यों जी,
यदि मैं तुम्हें बता दूँ
मैं करता हूँ प्यार किसी को—
तो चौंकोगे ?
ये ठण्डी आँखें झपकेंगी
औचक ?

उस उदासीन ने
सुना नहीं :
आँखों में
वही बुझा सूनापन जमा रहा।
ठण्डे नीले लोहू में
दौड़ी नहीं
सनसनी कोई।

पर अलक्ष्य गति से वह
कोई लीक पकड़
धीरे-धीरे
पत्थर की ओट
किसी कोटर में
सरक गया।

यों मैं
अपने रहस्य के साथ
रह गया

सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र
निष्कवच,
वध्य।

जीवन

चाबुक खाये
भागा जाता
सागर-तीरे
मुँह लटकाये
मानो धरे लकीर
जमे खारे झागों की—
रिरियाता कुत्ता यह
पूँछ लड़खड़ाती टाँगों के बीच दबाये।

कटा हुआ
जाने-पहचाने सब कुछ से
इस सूखी तपती रेती के विस्तार से,
और अजाने-अनपहचाने सब से
दुर्गम, निर्मम, अन्तहीन
उस ठण्डे पारावार से!

समय क्षण-भर थमा

समय क्षण-भर थमा-सा :
फिर तोल डैने
उड़ गया पंछी क्षितिज की ओर :
मद्धिम लालिमा ढरकी अलक्षित ।
तिरोहित हो चली ही थी कि सहसा
फूट तारे ने कहा : रे समय,
तू क्या थक गया ?
रात का संगीत फिर
तिरने लगा आकाश में ।

ओ निःसंग ममेतर

आज फिर एक बार
मैं प्यार को जगाता हूँ
खोल सब मुँदे द्वार
इस अगुरु-धूम-गन्ध-रुँधे सोने के घर के
हर कोने को
सुनहली खुली धूप में निल्हाता हूँ।
तुम जो मेरी हो, मुझ में हो,
सघनतम निविड में
मैं ही जो हो अनन्य
तुम्हें मैं दूर बाहर से, प्रान्तर से,
देशावर से, कालेतर से
तल से, अतल से, धरा से, सागर से,
अन्तरीक्ष से,
निर्व्यास तेजस् के निर्गभीर शून्य आकर से
मैं, समाहित अन्तःपूत,
मन्त्राहूत कर तुम्हें
ओ निसंग ममेतर,
ओ अभिन्न प्यार
ओ धनी !
आज फिर एक बार
तुम को बुलाता हूँ—
और जो मैं हूँ, जो जाना-पहचाना,

जिया-अपनाया है, मेरा है,
धन है, संचय है, उस की एक-एक कली को
न्योछावर लुटाता हूँ ।

२

जिन शिखरों की
हेम-मज्जित उँगलियों ने
निर्विकल्प इंगित से
जिस निर्व्याेस उजाले को
सतत झलकाया है—
उस में जो छाया मैंने पहचानी है
तुम्हारी है ।

जिन झीलों की
जिन पारदर्शी लहरों ने
नीचे छिपे शैवाल को सुनहला चमकाया है,
निश्चल निस्तल गहराइयों में
जो निश्छल उल्लास झलकाया है,
उस में निर्वाक् मैंने
तुम्हें पाया है ।

भटकी हवाएँ जो गाती हैं,
रात की सिहरती पत्तियों से
अनमनी झरती वारि-बूँदे
जिसे टेरती हैं,
फूलों की पीली पियालियाँ

जिस की ही मुसकान छलकाती हैं,
ओट मिट्टी की, असंख्य रसातुरा शिराएँ
जिस मात्र को हेरती हैं;
वसन्त जो लाता है,
निदाघ तपाता है,
वर्षा जिसे धोती है, शरद सँजोता है,
अगहन पकाता और फागुन लहराता
और चैत काट, बाँध, रौंद, भर कर ले जाता है—
नैसर्गिक चंक्रमण सारा—
पर दूर क्यों,
मैं ही जो साँस लेता हूँ
जो हवा पीता हूँ—
उस में हर बार, हर बार,
अविराम, अक्लान्त, अनाप्यायित
तुम्हें जीता हूँ।

३

घाटियों में
हँसियाँ
गूँजती हैं।
झरनों में
अजस्रता
प्रतिश्रुत होती है।
पंछी ऊँऽऽची
भरते हैं उड़ान—
आशाओं का इन्द्र-चाप

दोनों छोर नभ के
मिलाता है।

मुझ में पर—मुझ में—मुझ में—
मेरे हर गीत में, मेरी हर ज्ञप्ति में—
कुछ है जो काँटे कसकाता,
अंगारे सुलगाता है—
मेरे हर स्पन्दन में, साँस में, समाई में
विरह की आप्त व्यथा
रोती है।

जीना—सुलगना है
जागना—उमँगना है
चीन्हना—चेतना का
तुम्हारे रंग रँगना है।

४

मैंने तुम्हें देखा है
असंख्य बार :
मेरी इन आँखों में बसी हुई है
छाया उस अनवद्य रूप की।

मेरे नासापुटों में तुम्हारी गन्ध—
मैं स्वयं उस से सुवासित हूँ।
मेरे स्तब्ध मानस में गीत की लहर-सा
छाया है तुम्हारा स्वर।
और रसास्वाद : मेरी स्मृति अभिभूत है।

मैंने तुम्हें छुआ है
मेरी मुट्ठियों में भरी हुई तुम
मेरी ऊँगलियों बीच छन कर बही हो—
कण प्रतिकण आप्त, स्पृष्ट, भुक्त।
मैंने तुम्हें चूमा है
और हर चुम्बन की तप्त, लाल, अयस्कठोर छाप
मेरा हर रक्त-कण धारे है।

आह ! पर मैंने तुम्हें जाना नहीं।

५

नहीं ! मैंने तुम्हें केवल मात्र जाना है।
देखा नहीं मैंने कभी,
सुना नहीं, छुआ नहीं,
किया नहीं रसास्वाद—
ओ स्वतःप्रमाण ! मैंने
तुम्हें जाना,
केवल मात्र जाना है।

देख मैं सका नहीं :
दीठ रही ओछी, क्योंकि तुम समग्र एक विश्व हो
छू सका नहीं :
अधूरा रहा स्पर्श क्योंकि तुम तरल हो, वायवी हो
पहचान सका नहीं : तुम
मायाविनि, कामरूपा हो।

किन्तु, हाँ, पकड़ सका—
पकड़ सका, भोग सका

क्योंकि जीवनानुभूति
बिजली-सी त्वरग, अमोघ एक पंजा है
बलिष्ठ;
एक जाल निर्वारणीय :
अनुभूति से तो
कभी, कहीं, कुछ नहीं
बच के निकलता !

६

जीवनानुभूति : एक पंजा कि जिस में
तुम्हारे साथ मैं भी तो पकड़ में
आ गया हूँ !
एक जाल, जिस में
तुम्हारे साथ मैं भी बँध गया हूँ।
जीवनानुभूति :
एक चक्की। एक कोल्हू।
समय की अजस्र धार का घुमाया हुआ
पर्वती घराट् एक अविराम।
एक भट्ठी, एक आवाँ स्वतःतप्त :
अनुभूति !

७

तुम्हें केवल मात्र जाना है,
केवल मात्र तुम्हें जाना है,
तुम्हें जाना है, अप्रमाद तुम्हें जपा है,
तुम्हें स्मरा है।

और मैंने देखा है—
और मेरी स्मृति ने
मेरी देखी सारी रूप-राशि को इकाई दी है।
मैंने सुना है—
और मेरी अविकल्प स्मृति ने
सभी स्वर एक मूर्छना में गूँथ डाले हैं।
—सूँघा, और स्मृति ने
विकीर्ण सब गन्धों को
चयित कर दिया एक वृन्त में एक ही वसन्त के।
—मैंने छुआ है :
और मेरे ज्ञान ने असंख्य माया-मूर्तियों को
दी है वह संहति अचूक
जो-मात्र मेरी पहचानी है
जिसे-मात्र मैंने चाहा है।
—मैंने चूमा है,
और, ओ आस्वाद्य मेरी !
ले गयी है प्रत्यभिज्ञा मुझे उत्स तक
जिस की पीयूषवर्षी, अनवद्य, अद्वितीय धार
मुझे आप्यायित करती है।

हाँ, मैंने तुम्हें जाना है, मैं जानता हूँ,
पहचानता हूँ, सांगोपांग;
और भूलता नहीं हूँ—कभी भूल नहीं सकता !

भूलता नहीं हूँ
कभी भूल नहीं सकता
और मैं बिखरना नहीं चाहता।
आज, मन्त्राहूत ओ प्रियस्व मेरी !

मुझ को जो कहना है, वह इस धधकते क्षण में
वाग्देवता की यज्ञ-ज्वाला जब तक अभी
जलती है मेरी इस आविष्ट जिह्वा पर,
तब तक—मैं कह लूँ :
मेरे ही दाह का हुताशन हो साक्षी मेरा !

८

ओ आहूत !
ओ प्रत्यक्ष !
अप्रतिम !
ओ स्वयंप्रतिष्ठ !
सुनो संकल्प मेरा :

मैंने छुआ है, और मैं छुआ गया हूँ;
मैंने चूमा है, और मैं चूमा गया हूँ;
मैं विजेता हूँ और मुझे जीत लिया गया है;
मैं हूँ, और मैं दे दिया गया हूँ;
मैं जिया हूँ, और मेरे भीतर से जी लिया गया है;
मैं मिटा हूँ, मैं पराभूत हूँ, मैं तिरोहित हूँ,
मैं अवतरित हुआ हूँ, मैं आत्मसात् हूँ,
अमर्त्य, कालजित् हूँ ।

मैं चला हूँ
पहचानकर,
प्रकाश में,
दिक्-प्रबुद्ध,
लक्ष्यसिद्ध ।

इसी बल
जहाँ-जहाँ पहचान हुई, मैंने
वह ठाँव छोड़ दी;
ममता ने तरिणी को तीर-ओर मोड़ा—
वह डोर मैंने तोड़ दी ।
हर लीक पोंछी, हर डगर मिटा दी, हर दीप
निवा मैंने
बढ़ अन्धकार में
अपनी धमनी
तेरे साथ जोड़ दी ।

६

ओ मेरी सह-तितीर्षु,
हमीं तो सागर हैं
जिस के हम किनारे हैं क्योंकि जिसे हमने
पार कर लिया है ।

ओ मेरी सहयायिनि,
हमीं वह निर्मल तल-दर्शी वापी हैं
जिसे हम ओक-भर पीते हैं—
बार-बार, तृषा से, तृप्ति से, आमोद से, कौतुक से,
क्योंकि हमीं छिपा वह उत्स हैं जो उसे
पूरित किये रहता है ।

ओ मेरी सहधर्मा,
छू दे यह मेरा कर : आहुति दे दूँ—
हमीं याजक हैं, हमीं यज्ञ,
जिसमें हुत हमीं परस्परेष्टि ।

ओ मेरी अतृप्त, दु:शम्य धधक, मेरी होता,
ओ मेरी हविष्यान्न,
आ तू, मुझे खा
जैसे मैंने तुझे खाया है
प्रसादवत् ।
हम परस्पराशी हैं क्योंकि परस्परपोषी हैं
परस्परजीवी हैं ।

१०

ओ सहजन्मा, सह-सुभगा
नित्योढ़ा,
सहभोक्ता,
सहजीवा, कल्याणी ।

११

ओ मेरे पुण्य-प्रभव,
मेरे आलोक-स्नात, पद्म-पत्रस्थ जल-बिन्दु,
मेरी आँखों के तारे,
ओ ध्रुव, ओ चंचल,
ओ तपोजात,
मेरे कोटि-कोटि लहरों से मँजे एकमात्र मोती
ओ विश्व-प्रतिम,
अब तू इस कृती सीप को अपने में समेट ले,
यह परिदृश्य सोख ले ।
स्वाति बूँद ! चातक को आत्मलीन तू कर ले !
ओ वरिष्ठ ! ओ वर दे ! वर ले !

ओ एक ही कली की

ओ एक ही कली की
मेरे साथ प्रारब्ध-सी लिपटी हुई
दूसरी, चम्पई पँखुड़ी !
हमारे खिलते-न-खिलते सुगन्ध तो
हमारे बीच में से होती
उड़ जायेगी !

कि हम नहीं रहेंगे

हमने
शिखरों पर जो प्यार किया
घाटियों में उसे याद करते रहे !
फिर तलहटियों में पछताया किये
कि क्यों जीवन यों बरबाद करते रहे !

पर जिस दिन सहसा आ निकले
सागर के किनारे—
ज्वार की पहली ही उत्ताल तरंग के सहारे
पलक की झपक-भर में पहचाना
कि यह अपने को कर्त्ता जो माना—
यही तो प्रमाद करते रहे !

शिखर तो सभी अभी हैं,
घाटियों में हरियालियाँ छायी हैं;
तलहटियाँ तो और भी
नयी बस्तियों में उभर आयी हैं।

सभी कुछ तो बना है, रहेगा :
एक प्यार ही को क्या
नश्वर हम कहेंगे—
इस लिए कि हम नहीं रहेंगे ?

उलाहना

नहीं, नहीं, नहीं !

मैंने तुम्हें आँखों की ओट किया
पर क्या भुलाने को ?
मैंने अपने दर्द को सहलाया
पर क्या उसे सुलाने को ?

मेरा हर मर्माहत उलाहना
साक्षी हुआ कि मैंने अन्त तक तुम्हें पुकारा !

ओ मेरे प्यार ! मैंने तुम्हें बार-बार, बार-बार असीसा
तो यों नहीं कि मैंने बिछोह को कभी भी स्वीकारा ।

नहीं, नहीं, नहीं !

पक्षधर

इनसान है कि जनमता है
और विरोध के वातावरण में आ गिरता है :
उस की पहली साँस संघर्ष का पैंतरा है
उस की पहली चीख़ एक युद्ध का नारा है
जिसे यह जीवन-भर लड़ेगा ।

हमारा जन्म लेना ही पक्षधर बनना है,
जीना ही क्रमशः यह जानना है
कि युद्ध ठनना है
और अपनी पक्षधरता में
हमें पग-पग पर पहचानना है
कि अब से हमें हर क्षण में, हर वार में, हर क्षति में,
हर दुःख-दर्द, जय-पराजय, गति-प्रतिगति में
स्वयं अपनी नियति बन
अपने को जनना है ।

ईश्वर
एक बार का कल्पक
और सनातन क्रान्ता है :
माँ—एक बार की जननी
और आजीवन ममता है :
पर उन की कल्पना, कृपा और करुणा से

हम में यह क्षमता है
कि अपनी व्यथा और अपने संघर्ष में
अपने को अनुक्षण जनते चलें,
अपने संसार को अनुक्षण बदलते चलें,
अनुक्षण अपने को परिक्रान्त करते हुए
अपनी नयी नियति बनते चलें।

पक्षधर और चिरन्तन,
हमें लड़ना है निरन्तर,
आमरण अविराम—
पर सर्वदा जीवन के लिए :
अपनी हर साँस के साथ
पनपते इस विश्वास के साथ
कि हर दूसरे की हर साँस को
हम दिला सकेंगे और अधिक सहजता,
अनाकुल उन्मुक्ति, और गहरा उल्लास

अपनी पहली साँस और चीख़ के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते हैं :
उस के पक्षधर हैं हम—
इतने घने
कि उसी जीने और जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं !

सितम्बर १९६५

गति मनुष्य की

कहाँ !
न झीलों से न सागर से,
नदी-नालों, पर्वत-कछारों से,
न वसन्ती फूलों से, न पावस की फुहारों से
भरेगी यह—
यह जो न हृदय है, न मन,
न आत्मा, न संवेदन,
न ही मूल स्तर की जिजीविषा—
पर ये सब हैं जिस के मुँह
ऐसी पंचमुखी गागर
मेरे समूचे अस्तित्व की—
जड़ी हुई मेरी आँखों के तारों से
पड़ी हुई मेरे ही पथ में
मुझ से ठुकरायी जाने को
जहाँ-तहाँ, जहाँ-तहाँ…

प्यासी है, प्यासी है गागर यह
मानव के प्यार की
जिस का न पाना पर्याप्त है,
न देना यथेष्ट है,
पर जिस की दर्द की अतर्कित पहचान
पाना है, देना है, समाना है…

ओ मेरे क्रूर देवता, पुरुष,
ओ नर, अकेले, समूहगत,
ओ न-कुछ, विराट् में रूपायमान !
मुझे दे वही पहचान
उसी अन्तहीन खड्गधार का सही सन्धान मुझे
जिस से परिणय ही
हो सकती है परिणति उस पात्र की ।
मेरे हर मुख में,
हर दर्द में, हर यत्न, हर हार में
हर साहस, हर आघात के हर प्रतिकार में
धड़के नारायण ! तेरी वेदना
जो गति है मनुष्य मात्र की !

उत्तर-वासन्ती दिन

यह अप्रत्याशित उजला
दिपती धूप-भरा उत्तर-वासन्ती दिन
जिस में फूलों के रंग
चौंक कर खिले,
पंछियों की बोली है ठिठकी-सी,
हम साझा भोग सके होते—तू-मैं—
तो भी मैं इसे समूचा तुझ को भेंट चुका होता :

अब भी देता हूँ
(चौंका, ठिठका मैं)
उतना ही सहज, कदाचित् तेरे उतना ही अनजाने भी ।
ले, दिया गया यह :
एक छोड़ उस लौ को जो
एकान्त मुझे झुलसाती है ।

पंचमुख गुड़हल

शान्त
मेरे सँझाये कमरे,
शान्त
मेरे थके-हारे दिल।
मेरी अगरबत्ती के धुएँ के
बलखाते डोरे,
लाल
अंगारे से डह-डह इस
पंचमुख गुड़हल के फूल को
बाँधते रहो नीरव—
जब तक बाँधते रहो।
साँझ के सन्नाटे में मैं
सका तो एक धुन
निःशब्द गाऊँगा।

फिर अभी तो वह आयेगी :
रागों की एक आग एक शतजिह्व
लहलह सब पर छा जायेगी।
दिल, साँझ, शम, कमरा, क्लान्ति
एक ही हिलोर
डोरे तोड़ सभी
अपनी ही लय में बहायेगी :

फूल मुक्त,
धरा बँध जायेगी।
अपने निवेदन का धुआँ बन
अपनी अगरबत्ती-सा
मैं चुक जाऊँगा।

गुल-लालः

लालः के इस
भरे हुए दिल-से पके लाल फूल को देखो
जो भोर के साथ विकसेगा
फिर साँझ के संग सकुचायेगा
और (अगले दिन) फिर एक बार खिलेगा
फिर साँझ को मुंद जायेगा।
और फिर एक बार उमँगेगा
तब कुम्हलाता हुआ काला पड़ जायेगा।

पर मैं—वह भरा हुआ दिल—
क्या मुझे फिर कभी खिलना है?
जिस में (यदि) हँसना है
वह भोर ही क्या फ़िर आयेगा?

अन्धकार में जागनेवाले

रात के घुप अँधेरे में जो एकाएक जागता है
और दूर सागर की घुरघुराहट-जैसी चुप
सुनता है
वह निपट अकेला होता है।
अन्धकार में जागनेवाले सभी अकेले होते हैं।

पर जो यों ही सहमी हुई रात में
थके सहमे सियार की हकलाती हुआँ-हुआँ-सी
हवाई हमले के भोंपू की आवाज़ से
एकाएक जगा दिया जाता है
वह और भी अकेला होता है :
और जब वह घर से बाहर निकल कर
सागर की घुरघुराहट-जैसे चुप
घनी रात के घुप अँधेरे में
घिर जाता है
तब वह अकेले के साथ
मामूली भी हो जाता है।

घुप रात के
चुप सन्नाटे में
अकेलापन
और मामूलियत :

इसे अचानक जगाया गया
हर आदमी
अपनी नियति पहचानता है।

वही हम हैं :
घुप अँधेरे में
सरसराहटें सुनते हुए
अकेले
और मामूली।

न होते अकेले
तो डरते।
न होते मामूली
तो घबराते।
पर अकेले होने और साथ ही मामूली होने में
एकाएक
अँधेरा हमारी मुट्ठी में आ जाता है
और वह अनपहचानी सुरसुराहट
एक सन्देश बन जाती है
जिसे हर मामूली अकेला
अकेलेपन और मामूलियत की सैकड़ों सदियों से जानता है :
कि वह एक
बच जाता है;
वही
अनश्वर है।

मामूली और अकेला :
उस घुप अँधेरे में

मेरे भीतर से सैकड़ों घुसपैठिये
आग लगाते हुए गुज़र जाते हैं—
पर उसी में
मैं उन सब की ज़िन्दगी जीता हूँ
जिन्होंने दुश्मन के टैंक तोड़े
जिन्होंने बममार विमान गिराये
जिन्होंने राहों में बिछायी गयीं विस्फोटक
सुरंगें समेटीं,
जो गिरे और प्रतीक्षा में रह कर भी उठाये नहीं गये,
पथरा गये,
जो खेत रहे,
जिन्होंने वीर कर्मों के लिए सम्मान पाया—
और मैं उन सब की भी ज़िन्दगी जीता हूँ
जिन के नामहीन, स्वरहीन, अप्रत्याशित, अतर्कित भी
आत्म-त्याग ने

इन वीरों को
अपने जाज्वल्यमान कर्मों का
अवसर दिया ।

और यों
इन नामहीनों की ज़िन्दगी जीता हुआ मैं
वहीं लौट आता हूँ जहाँ मैं होता हूँ जब मैं जागता हूँ—
मामूली और अकेला
मैं अँधेरे के घुप में एक प्रकाश से घिर जाता हूँ—
मैं, जो नींव की ईंट हूँ :
सुरसुराते चुप में एक अलौकिक संगीत से गूंज
उठता हूँ
मैं जो सधा हुआ तार हूँ :

मैं, मामूली, अकेला, दुर्दम, अनश्वर—
मैं, जो हम सब हूँ।

तब वह ठिठुरे सियार की रिरियाती पुकार
एक स्पष्ट, तेज़, आश्वस्त गूँजती और गुँजाती हुई
एकसार आवाज़ बन जाती है
मेरा अकेलापन एक समूह में विलय हो जाता है
जिस के हर सदस्य का एक बँधा हुआ कर्त्तव्य है
जिसे वह दृढ़ता से कर रहा है क्योंकि वह उस के
जीवन की बुनियाद है,
और मेरी मामूलियत एक सामर्थ्य, एक गौरव,
एक संकल्प में बदल जाती है
जिस में मैं करोड़ों का साथी हूँ :
रात फिर भी होगी या हो सकती है
पर मैं जानता हूँ कि भोर होगा
और उस में हम सब
संकल्प से बँधे, सामर्थ्य से भरे और गौरव से
घिरे हुए हम सब
अपने उन कामों में जमे होंगे
जिन से हम जीते हैं
जिन से हमारा देश पलता है
जिन से हमारा राष्ट्र रूप लेता है—
वयस्क, स्वाधीन, सबल, प्रतिभा-मण्डित, अमर—
और हमारी तरह अकेला—क्योंकि अद्वितीय···

इस से क्या
कि सवेरे हम में से एक
साइकल ले कर दिन-भर के लिए क़लम घिसने जायेगा

और एक दूसरा झाबा ले कर तरकारी बेचने
और एक तीसरा झल्ली ले कर ढुलाई करने—
मिट्टी की, या दूसरों के ख़रीदे फल-मेवे और कपड़ों की—
और एक चौथा मोटर में बैठता हुआ चपरासी से फाइलें
उठवायेगा—
एक कोई बीमार बच्चे को सहलाता हुआ आश्वासन
देगा—'देखो,
सका तो ज़रूर ले आऊँगा'—
और एक कोई आश्वासन की असारता जानता हुआ भी
मुसकरा कर कहेगा—
'हाँ, ज़रूर, भूलना मत !'
इस से क्या कि एक की कमर झुकी होगी
और एक उमंग से गा रहा होगा—'मोसे गंगा के पार···'
और एक के चश्मे का काँच टूटा होगा—
और एक के बस्ते में स्कूल की किताबें आधी से
अधिक फटी हुई होंगी ?
एक के कुरते की कुहनियाँ छिदी होंगी,
एक के निकर में बटनों का स्थान एक आलपीन
ने लिया होगा,
एक के हाथ की पोटली में गये दिन के सवेरे के
रोट का टुकड़ा होगा,
और एक की जेब में सिगरेट की महकती डिबिया
और लासे की मीठी टिकियाँ
जिस से वह दिन-भर मुँह से लचकीले बुलबुले निकाला करेगा
और फिर वापस खींच लिया करेगा,
एक ने गालों से गये दिन की नक़ली रंगत नये दिन की
नक़ली बालाई से उतारी होगी,
और एक ने चेहरे पर उबटन की जगह पसीने-सनी धूल की

लीकों को हथेली की पुश्त से और लम्बा कर लिया होगा,
और एक के हाथों पर बूट-पॉलिश की महक और
रंगत की लिखत
दिन-भर के लिए आशा का पट्टा होगी ?
इस सब से क्या
उस सब से क्या
किसी सबसे क्या
जब कि अकेलेपन में
एक व्याप्त मामूलीपन का स्पन्दन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक डोर है
जिस में हम सब
हर अकेली रात के अँधेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव की लड़ी में बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

सितम्बर १९६५

गृहस्थ

कि तुम
मेंरा घर हो
यह मैं उस घर में रहते-रहते
बार-बार भूल जाता हूँ
या यों कहूँ कि याद ही कभी-कभी करता हूँ :
(जैसे कि यह
कि मैं साँस लेता हूँ :)
पर यह
कि तुम उस मेरे घर की
एक मात्र खिड़की हो
जिस में से मैं दुनिया को, जीवन को,
        प्रकाश को देखता हूँ, पहचानता हूँ,
—जिस में से मैं रूप, सुर, बास, रस
        पाता और पीता हूँ—
जो वस्तुएँ हैं, उन के अस्तित्व को छूता हूँ,
—जिस में से ही
मैं उस सब को भोगता हूँ जिस के सहारे मैं जीता हूँ
—जिस में से उलीच कर मैं
अपने ही होने के द्रव को अपने में भरता हूँ—
यह मैं कभी नहीं भूलता :
क्योंकि उसी खिड़की में से हाथ बढ़ा कर

मैं अपनी अस्मिता को पकड़े हूँ—
कैसी कड़ी कौली में जकड़े हूँ—
और तुम—तुम्हीं मेरा वह मेरा समर्थ हाथ हो
तुम जो सोते-जागते, जाने-अनजाने
मेरे साथ हो।

जैसे जब तारा देखा

क्या दिया-लिया ?
जैसे
जब तारा देखा
सद्यःउदित
—शुक्र, स्वाति, लुब्धक—
कभी क्षण-भर
यह बिसर गया
मैं मिट्टी हूँ;
जब से प्यार किया,
जब भी उभरा यह बोध
कि तुम प्रिय हो—
सद्यःसाक्षात् हुआ—
सहसा
देने के अहंकार
पाने की ईहा से
होने के अपनेपन
(एकाकीपन !) से
उबर गया।
जब-जब यों भूला,
धुल कर मँज कर
एकाकी से एक हुआ।
जिया।

सुनी हैं साँसें

हम सदा जो नहीं सुनते
साँस अपनी
या कि अपने हृदय की गति—
वह अकारण नहीं।
इन्हें सुनना है अकारण पकड़ जाना।
स्वयं अपने से
या कि अन्तःकरण में स्थित एक से।
उपस्थित दोनों सदा हैं,
है हमें यह ज्ञान, पर भरसक इसे हम
स्वयं अपने सामने आने नहीं देते।
ओट थोड़ी बने रहना ही भला है—
देवता से
और अपने-आप से।

किन्तु मैं ने सुनी हैं साँसें
सुनी है हृदय की धड़कन
और, हाँ, पकड़ा गया हूँ
औचक, बार-बार।
देवता का नाम यों ही नहीं लूँगा :
पर जो दूसरा होता—स्वयं मैं—
सदा मैंने यही पाया है कि वह
तुम हो :

कि जो-जो सुन पड़ी है साँस,
तुम्हारे बिम्ब को छूती बही है :
जो धड़कन हृदय की
चेतना में फूट आयी है हठीली
नये अंकुर-सी—
तुम्हारे ध्यान से गूँथी हुई है।

यह लो
अभी फिर सुनने लगा मैं
साँस—अभी कुछ गरमाने लगी-सी—
हृदय-स्पन्दन तीव्रतर होता हुआ-सा ।
लो
पकड़ देता हूँ—
सँभालो ।

साँस
स्पन्दन
ध्यान
और मेरा मुग्ध यह स्वीकार—
सब
(उस अजाने या अनामा देवता के बाद)
तुम्हारे हैं ।

नाता-रिश्ता

तुम सतत
चिरन्तन छिने जाते हुए
क्षण का सुख हो—
(इसी में उस सुख की अलौकिकता है) :
भाषा की पकड़ में से फिसली जाती हुई
भावना का अर्थ—
(वही तो अर्थ सनातन है) :
वह सोने की कनी जो उस अंजलि-भर रेत में थी जो
धो कर अलग करने में—
मुट्ठियों से फिसल कर नदी में बह गयी—
(उसी अकाल, अकूल नदी में जिस में से फिर
अंजलि भरेगी
और फिर सोने की कनी फिसल कर बह जायेगी ।)

तुम सदा से
वह गान हो जिस की टेक-भर
गाने से रह गयी ।
मेरी वह फूस की मड़िया जिस का छप्पर तो
हवा के झोंकों के लिए रह गया
पर दीवारें सब बेमौसम की वर्षा में बह गयीं···
यही सब हमारा नाता-रिश्ता है—इसी में मैं हूँ
और तुम हो :

और इतनी ही बात है जो बार-बार कही गयी
और हर बार कही जाने में ही कही जाने से रह गयी।

२

तो यों, इस लिए
यहीं अकेले में
बिना शब्दों के
मेरे इस हठी गीत को जागने दो, गूँजने दो
मौन में लय हो जाने दो :
यहीं
जहाँ कोई देखता-सुनता नहीं
केवल मरु का रेत-लदा झोंका
डँसता है और फिर एक किरकिरी
हँसी हँसता बढ़ जाता है—
यहीं
जहाँ रवि तपता है
और अपनी ही तपन से जनी धूल-कनी की
यवनिका में झपता है—
यहीं
जहाँ सब कुछ दीखता है,
पर सब रंग सोख लिये गये हैं
इस लिए हर कोई सीखता है कि
सब कुछ अन्धा है।
जहाँ सब कुछ साँय-साँय गूँजता है
और निरे शोर में संयत स्वर धोखे से
लड़खड़ा कर झड़ जाता है।

३

यहीं, यहीं और अभी
इस सधे सन्धि-क्षण में
इस नये जनमे, नये जागे,
अपूर्व, अद्वितीय—अभागे
मेरे पुण्यगीत को
अपने अन्त:शून्य में ही तन्मय हो जाने दो—
यों अपने को पाने दो !

४

वही, वैसे ही अपने को पा ले, नहीं तो
और मैंने कब, कहाँ तुम्हें पाया है ?
हाँ—बातों के बीच की चुप्पियों में,
हँसी में उलझ कर अनसुनी हो गयी आहों में
भीड़ों में भटकी हुई अनाथ आँखों में
तीर्थों की पगडण्डियों में
बरसों पहले गुज़रे हुए यात्रियों की
दाल-बाटी की बची-बुझी राखों में !

५

उस राख का पाथेय ले कर मैं चलता हूँ—
उस मौन की भाषा में मैं गाता हूँ :
उस अलक्षित, अपरिमेय निमिष में
मैं तुम्हारे पास जाता हूँ, पर
मैं, जो होने में ही अपने को छलता हूँ—
यों अपने अनस्तित्व में तुम्हें पाता हूँ !

होने का सागर

सागर जो गाता है
वह अर्थ से परे है—
वह तो अर्थ को टेर रहा है ।

हमारा ज्ञान जहाँ तक जाता है,
जो अर्थ हमें बहलाता (कि सहलाता) है
वह सागर में नहीं,
हमारी मछली में है
जिसे सभी दिशा में
सागर घेर रहा है ।

आह, यह होने का अन्तहीन, अर्थहीन सागर
जो देता है सीमाहीन अवकाश
जानने की हमारी गति को :
आह यह जीवित की लघु, विद्युद्-द्रुत सोन-मछली
केवल मात्र जिस की बलखाती गति से
हम सागर को नापते क्या, पहचानते भी हैं !

युद्ध-विराम

नहीं, अभी कुछ नहीं बदला है।

अब भी
ये रौंदे हुए खेत
हमारी अवरुद्ध जिजीविषा के
सहमे हुए साक्षी हैं;
अब भी
ये दलदल में फसी हुई मौत की मशीनें
उन के अमानवी लोभ के
कुण्ठित, अशमित प्रेत :
अब भी
हमारे देवदारु-वनों की छाँहों में
पहाड़ी खोहों में
चट्टानों की ओट में
वनैली ख़ूख़ार आँखें
घात में बैठी हैं :
अब भी
दूर अध-दिखती ऊँचाइयों पर
जमे हैं गिद्ध
प्रतीक्षा के बोझ से
गरदनें झुकाये हुए।

नहीं, अभी कुछ नहीं बदला है :
इस अनोखी रंगशाला में
नाटक का अन्तराल मानों
समय है सिनेमा का :
कितनी रील ?
कितनी क़िस्तें ?
कितनी मोहलत ?

कितनी देर
जलते गाँवों की चिरायँध के बदले
तम्बाकू के धुएँ का सहारा ?
कितनी देर
चाय और वाह-वाही की
चिकनी सहलाहट में
रुकेगा कारवाँ हमारा ?

नहीं, अभी कुछ नहीं बदला है :
हिम-चोटियों पर छाये हुए बादल
केवल परदा हैं-
विराम है, पर वहाँ राम नहीं हैं :
सिंचाई की नहरों के टूटे हुए कगारों पर
बाँस की टट्टियाँ धोखे की हैं :
भूख को मिटाने के मानवी दायित्व का स्वीकार नहीं,
मिटाने की भूख की लोलुप फुफकार ही
उन के पार है ।

बन्दूक़ के कुन्दे से
हल के हत्थे की छुअन

हमें अब भी अधिक चिकनी लगती,
संगीन की धार से
हल के फाल की चमक
अब भी अधिक शीतल,
और हम मान लेते कि उधर भी
मानव मानव था और है,
उधर भी बच्चे किलकते और नारियाँ दुलराती हैं,
उधर भी मेहनत की सूखी रोटी की बरकत
लूट की बोटियों से अधिक है—
पर
अभी कुछ नहीं बदला है
क्योंकि उधर का निज़ाम
अभी उधर के किसान को
नहीं देता
आज़ादी
आत्मनिर्णय
आराम
ईमानदारी का अधिकार !

नहीं, अभी कुछ नहीं बदला है :
कुछ नहीं रुका है ।
अब भी हमारी धरती पर
बैर की जलती पगडण्डियाँ दिख जाती हैं,
अब भी हमारे आकाश पर
धुएँ की रेखाएँ अन्धी
चुनौती लिख जाती हैं :
अभी कुछ नहीं चुका है ।
देश के जन-जन का

यह स्नेह और विश्वास
जो हमें बताता है
कि हम भारत के लाल हैं—
वही हमें यह भी याद दिलाता है
कि हमीं इस पुण्य-भू के
क्षिति-सीमान्त के धीर, दृढ़व्रती दिक्पाल हैं ।

हमें बल दो, देशवासियो,
क्योंकि तुम बल हो :
तेज दो, जो तेजस् हो,
ओज दो, जो ओजस् हो,
क्षमा दो, सहिष्णुता दो, तप दो
हमें ज्योति दो, देशवासियो,
हमें कर्म-कौशल दो :
क्योंकि अभी कुछ नहीं बदला है,
अभी कुछ नहीं बदला है…

सितम्बर १९६५

स्मारक

ओ बीच की पीढ़ी के लोगो,
तुम युवतर पीढ़ी से कहते हो :
तुम घृणा के धुन्ध में जनमे थे
तुम आज भी घृणा करो।
गली-गली, नुक्कड़-चौराहे
बचे खड़े खँडहरों
या कि युद्ध के बाद रचे स्मारक-स्तूपों को देख-देख
फिर याद करो
वह घृणा
धुन्ध
कालिमा—
वही घृणा फिर हृदय धरो !

पर जिस तुम से पहले की पीढ़ी ने
उन्हें जना
क्या उन से, ओ बिचौलियो ! यह पूछा था
वे क्या मरे घृणा में ?
खँडहर होंगे ढूह घृणा के
और घृणा के स्मारक होंगे नये तुम्हारे थम्भ,
चौर, गुम्बद, मीनारें,
पर वे जो मरे
घृणा में नहीं, प्यार में मरे !

जिस मिट्टी को दाब रहे हैं ये स्मारक सदर्प,
चप्पा-चप्पा उस का, कनी-कनी साक्षी है
उस अनन्य एकान्त प्यार का
जो कि घृणा से उपजे हर संकट को काट गया !

तुम जो खुद उन के नाम के बल पर जीते हो,
क्या वह बल घृणा को ही देना चाहते हो—
उन के नाम का बल, उन का बल,
जिन्होंने अपने प्राण
घृणा को नहीं, प्यार को दिये,
स्मारकों को नहीं, मिट्टी को दिये,
मोल आँकनेवालों को नहीं, मूल्यों को दिये···

ये स्मारक—नये-पुराने ढूह—नहीं,
वह मिट्टी ही है पूज्य :
प्यार की मिट्टी
जिस से सरजन होता है
मूल्यों का
पीढ़ी-दर-पीढ़ी !

वोल्गोग्राद (स्तालिनग्राद)
जून १९६६

महानगर : कुहरा

झँझरे मटमैले प्रकाश के कन्थे
जहाँ-तहाँ कुहरे में लटक रहे हैं।
रंग-बिरंगी हर थिगली
संसार एक।

सीली सड़कों पर कराहती ठिलती जाती
ये अंगार-नैन गाड़ियाँ
बनाती जाती हैं आवर्त्त-विवर्त
अनवरत बाँध रहीं
उन अधर-टँके सब संसारों को
एक कुण्डली में, जिस पर
होगा आसन
किस निराधार नारायण का ?

ये कितने निराधार नर
क्षण-भर हर चादर की ओट उझक
तिर-घिर आते हैं
एक पिघलती सुलगन के घेरे में :
ऊभ-चूभ कर
पुनः डूबने को—
चादर की ओट

या कि गाड़ियों की
अंगार-कगारी तमोनदी में।

ओ नर ! ओ नारायण !
उभय-बन्ध ओ निराधार !

तुम्हें नहीं तो किसे और

तुम्हें नहीं तो किसे और
मैं दूँ
अपने को
(जो भी मैं हूँ) ?
तुम जिस ने तोड़ा है
मेरे हर झूठे सपने को—
जिस ने बेपनाह
मुझे झँझोड़ा है
जाग-जाग कर
तकने को
आग-सी नंगी, निर्ममत्व
औ' दुस्सह
सच्चाई को—
सदा आँच में तपने को—
तुम, ओ एक, निःसंग, अकेले,
मानव,
तुम को—मेरे भाई को !

हम नदी के साथ-साथ

हम नदी के साथ-साथ
सागर की ओर गये
पर नदी सागर में मिली
हम छोर रहे :
नारियल के खड़े तने हमें
लहरों से अलगाते रहे
बालू के ढूहों से जहाँ-तहाँ चिपटे
रंग-बिरंग तृण-फूल-शूल
हमारा मन उलझाते रहे
नदी की नाव
न जाने कब खुल गयी
नदी ही सागर में घुल गयी
हमारी ही गाँठ न खुली
दीठ न धुली
हम फिर, लौट कर फिर गली-गली
अपनी पुरानी अस्ति की टोह में भरमाते रहे ।

पेरियार*

बकरी के बच्चे की मिमियाहट पर तिरता
वह चम्पे का फूल
काँपता गिरता
पल-भर घिरता
है कगार की ओट
भँवर की किरण-गर्भ
कलसी में :
अर्द्धमण्डली खींच
निकल कर वह जाता है ।

और घाट की सँकरी सीढ़ी पर
घुटने पर टेक गगरिया
खड़ी बहुरिया
थिर पलकों को एकाएक झुका,
कर ओट भँवरती धूमिल बिजली को,
फिर उठा बोझ
चढ़ने लगती है ।

ओ साँस ! समय जो कुछ लावे
सब सह जाता है :
दिन, पल, छिन—

---

*केरल की एक नदी; इसी के किनारे कालडि में शंकराचार्य का जन्म हुआ था ।

इन की झाँझर में जीवन
कहा-अनकहा रह जाता है।
बहू हो गई ओझल :
नदी पार के दोपहरी सन्नाटे ने फिर
बढ़ कर इस कछार की कौली भर ली :
वेणी आँचल से रेती पर
झरती बूँदों की
लहर-डोर थामे, ओ मन !
तू बढ़ता कहाँ जायेगा ?

फ़ोकिस में ओदिपौस

राही, चौराहों पर बचना !
राहे यहाँ मिली हैं, बढ़ कर अलग-अलग हो जायेंगी
जिस की जो मंज़िल हो आगे-पीछे पायेंगी
पर इन चौराहों पर औचक एक झुटपुटे में
अनपहचाने पितर कभी मिल जाते हैं :
उन की ललकारों से आदिम रुद्र-भाव जग आते हैं,
कभी पुरानी सन्धि-वाणियाँ
और पुराने मानस की धुँधली घाटी की अन्ध गुफा को
एकाएक गुँजा जाती हैं;
काली आदिम सत्ताएँ नागिन-सी
कुचले शीश उठाती हैं—
राही
शापों की गुंजलक में बँध जाता है :
फिर
जिस पाप-कर्म से वह आजीवन भागा था,
वह एकाएक
अनिच्छुक हाथों से सध जाता है ।

राही, चौराहों से बचना !
वहाँ ठूँठ पेड़ों की ओट
घात बैठी रहती हैं
जीर्ण रूढ़ियाँ

हवा में मँडराते संचित अनिष्ट, उन्माद, भ्रान्तियाँ—
जो सब, जो सब
राही के पद-रव से ही बल पा,
सहसा कस आती हैं
बिछे, तने, झूले फन्दों-सी बेपनाह !
राही, चौराहों पर
बचना ।

देल्फ़ी, ग्रीस]

कालेमेग्दान*

इधर
परकोटे और भीतरी दीवार के बीच
लम्बी खाई में
ढंग से सँवरे हुए
पिछले महायुद्ध के हथियारों के ढूह :
रुण्डे टैंक, टुण्डी तोपें, नकचिपटे गोला-फेंक—
सब की पपोटे-रहित अन्धी आँखें
ताक रहीं आकाश।

उधर
परकोटे और दीवार के बीच टीले पर
बेढंगे झंखाड़ों से अधढँके
मठ और गिरजाघर के खँडहर
चौकाठ-रहित खिड़कियों से उमड़ता अँधियार
मनुष्यों को मानों खोजता हो धरती पर···

ईश्वर रे, मेरे बेचारे,
तेरे कौन रहे अधिक हत्यारे ?

बेओग्राद, युगोस्लाविया]

---

* साव़ा और दोनाउ (डैन्यूब) के संगम पर प्राचीन दुर्ग, जिस के भीतर अब अस्त्र-संग्रहालय भी है।

यात्री

प्रबुद्ध ने कहा : मन्दिरों में न जा, न जा !
वे हिन्दू हों, बौद्ध हों, जैन हों,
मुस्लिम हों, मसीही हों, और हों,
देवता उन में जो विराजें
परुष हों, पुरुष हों, मधुर हों, करुण हों
कराल हों, स्त्रैण हों,
अमूर्त्त हों
(या धूर्त्त हों)
किसी की आरती न कर, किसी के लिए रूप-थालों में
धूप-दीप-नैवेद्य, कुछ न सजा—
न धन, न मन (नाम-रूप सब तन के)
न जुटा पाथेय कुछ—
मन्दिरों में न जा, न जा !

बोधिसत्त्व ने कहा : तीर्थों को खोज चला है,
चलता जा
माँग कि यात्रा लम्बी हो;
पथ ही जैसा-तैसा पाथेय जुटाता चले;
परिग्रह के पत्ते ज्यों झरते त्यों ज्ञान के बीज तू पाता चले,
माँग कि यात्रान्त न हो;
पथ पर ही भीतर से पकता
तू बाहर से सहज गलता जा ।

आज बोधि का धीमा स्वर सुना :
तीर्थों में न भी हो पानी
—या मन्दिरों में श्रद्धा, या देवता में सत्ता—
पर यात्रा में एक बात तो तूने पहचानी :
कि तीर्थों को तेरी ही तितीर्षा गढ़ती रही।
मन्दिरों में कहाँ कुछ होता है ?
तेरी ही गति वहाँ पूजा पर चढ़ती रही,
वही है मन्दिर का ऐश्वर्य, वही श्रद्धा की भी,
मूर्ति की भी अर्थवत्ता।

पग-पग पर तीर्थ है,
मन्दिर भी बहुतेरे हैं;
तू जितनी करे परिकम्मा, जितने लगा फेरे
मन्दिर से, तीर्थ से, यात्रा से,
हर पग से, हर साँस से
कुछ मिलेगा, अवश्य मिलेगा,
पर उतना ही जितने का तू है अपने भीतर से दानी !

स्वप्न

धुएँ का काला शोर :
भाप के अग्निगर्भ बादल :
बिना ठोस भूतल की रपटन में उगते, बढ़ते, फूलते
        अन्तहीन कुकुरमुत्ते,
न-कुछ की फाँक से झाँक-झाँक, झुक कर
        झपटने को बढ़ रहे भीमकाय कुत्ते।
अग्नि-गर्भ फैल कर सब लील लेता है।
केवल एक तेज—एक दीप्ति :
न उस का, न सपने का कहीं कोई ओर-छोर :
बिना चौंके पाता हूँ कि जाग गया हूँ।
भोर···

प्रस्थान से पहले

हमेशा
प्रस्थान से पहले का
वह डरावना क्षण
जिस में सब कुछ थम जाता है
और रुकने में
रीता हो जाता है :
गाड़ियाँ, बातें, इशारे
आँखों की टकराहटें,
साँस :
समय की फाँस अटक जाती है
(जीवन के गले में)
हमेशा, हमेशा, हमेशा···।

और हमेशा
विदाई के पहले का
वह और भी डरावना क्षण
जिस में सारे अपनापे
सुन्न हो जाते हैं
एक परायेपन की
चट्टान के नीचे :
प्यार की मींड़दार पुकारें
सम उक्तियों में गूंज जानेवाली

गुँथी उँगलियों, विषम, घनी साँसों की यादें,
कनखियाँ, सहलाहटें,
कनबतियाँ,
अस्पर्श चुम्बन,
अनकही आपस में जानी प्रतीक्षाएँ,
खुली आँखों की वापियों में और गहरे
सहसा खुल जाने वाले
पिघली चिनगारी को ओट रखते द्वार—
खिलने-सिमटने की चढ़ती-उतरती लहरें,
कँपकपियाँ, हल्के दुलार···
काल की गाँस कर देती है
अपने को अपना ही अजनबी—
हमेशा, हमेशा, हमेशा···

विदा के चौराहे पर : अनुचिन्तन

यह एक और घर
पीछे छूट गया,
एक और भ्रम
जो जब तक था मीठा था
टूट गया।

कोई अपना नहीं कि
केवल सब अपने हैं :
हैं बीच-बीच में अन्तराल
जिन में हैं झीने जाल
मिलानेवाले कुछ, कुछ दूरी और दिखानेवाले
पर सच में
सब सपने हैं।

पथ लम्बा है : मानो तो वही मधुर है
या मत मानो तो भी वह सच्चा है।
यों सच्चे हैं भ्रम भी, सपने भी
सच्चे हैं अजनबी—और अपने भी।

देश-देश की रंग-रंग की मिट्टी है :
हर दिक् का अपना-अपना है आलोक-स्रोत
दिक्काल-जाल के पार विशद निरवधि सूने में

फहराता पाल चेतना की, बढ़ता जाता है प्राण-पोत ।

हैं घाट ? स्वयं मैं क्या हूँ ? है बाट ? देखता हूँ मैं ही ।
पतवार ? वही जो एकरूप है सब से—
इयत्ता का विराट् ।

यों घर—जो पीछे छूटा था—
वह दूर पार फिर बनता है
यां भ्रम—यों सपना—यों चित्-सत्य
लीक-लीक पथ के डोरों से
नया जाल फिर तनता है…

कांच के पीछे मछलियाँ

उधर उस काँच के पीछे पानी में
ये जो कई मछलियाँ
बे-आवाज़ खिसलती हैं
उन में से किसी एक को
अभी हमीं में से कोई खा जायेगा,
जल्दी से पैसे चुकायेगा—
चला जायेगा।

फिर इधर इस काँच के पीछे कोई दूसरा आयेगा,
पैसे खनकायेगा,
रुपये की परचियाँ खिसलायेगा,
बिना किसी जल्दी के समेटेगा, जेब में सरकायेगा
दाम देगा नहीं, वसूलेगा
और फिर हम सब को—एक-एक को—एक साथ
और बड़े इत्मीनान से धीरे-धीरे खायेगा
खाता चला जायेगा,
वैसी ही बे-झपक आँखों से ताकता हुआ
जैसी से ताकती हुई ये मछलियाँ
स्वयं खायी जाती हैं।

जिन्दगी के रेस्तराँ में यही आपसदारी है
रिश्ता-नाता है—
कि कौन किस को खाता है।

हेमन्त का गीत

भर ली गयी हैं पुआलें खलिहानों में :
तोड़ लिये गये हैं सब सेब : सूनी हैं डालें।
उतर चुके अंगूर—गुच्छे के गुच्छे,
हो चुके पहली पेराई के मेले :
लाल हो कर काली भी पड़ गयीं बग़ीचों में क़तारें : सूख
चली बेलें।

झील की कोखों से जहाँ झाँकते थे
धूप से सोना-मढ़े भाप के छल्ले
वहाँ अब मँडराता है घना नीला कुहरा
मनहूस, बाँझ सन्नाटे को करता और गहरा।···

अनदेखे लाद ले गया है अपनी झोली में
काल का गली छानता हुआ कबाड़ी
न जाने कितने दिन, कितने क्षण,
कितनी अन्तहीन अनकही और अधूरी कही बातें,
कितने संकेत, कितने स्पर्श-हर्ष,
उमंगें—अकुलाहटें;
सिहरनों में घुलती और साँसों से नापी हुई रातें
ठिठकनें, आहटें;
कितने कल्पना की आग में रूपायित किये हुए सपने,
कितना माल, जो पड़ा था तो मानो रद्दी था,
पर अब उस के हाथ चला गया तो सन्देह होता है

कहीं हम ठगे तो नहीं गये ?

क्योंकि नहीं तो कहाँ है वह प्यार, कहाँ हो तुम, ओ मेरे
अपने,
कहाँ हैं वे हम, जिनका निरन्तर अपने को भूलना ही
जीना और होना था—
जहाँ अपने को राख-सा फूँक कर उड़ाते जाना
दोनों को पाना था ?

(भर ली गयी हैं पुआलें
खलिहानों में :
तोड़ लिये गये सब सेब : सूनी हैं डालें :)
रूपायित सपने तो गये भी (आख़िर सपने थे,
हम गये जाग), पर
क्या हुई वह रूपकल्पी आग ?
(उतर चुके अंगूर—गुच्छे के गुच्छे,
हो चुके पेराई के मेले।
काली पड़ गयीं क़तारें : लाल होकर सूख भी चली बेलें।)

रूपकल्पी आग !
(तोड़ लिये गये हैं सब सेब, सूनी हैं डालें···)
आधी रात राख में कभी सुलग जाती हैं केवल सपने की
परछाइयाँ।
(खलिहानों में भर ली गयी हैं पुआलें···)

पड़ाव : थके पैर : क्या भूख ? नहीं। शीत ? नहीं।
तो कुछ तो कहो ? कुछ नहीं, आँखों की दीठ मुझे घेरे रहे,
कुछ और नहीं चाहिए—उसी में गरमाई है,

तृप्ति है, सहलाहट है, उनींदा है जो नींद से भी मीठा है···
दूर-दूर, छूईमुई-से, पर कितने तुम मेरे रहे···

भोर : चोरी से नहीं, अनजाने, अचानक
मैंने तुम्हें झरने पर देखा।
आह ! ऐसे धुलते हैं तार सोने के,
ऐसे मँजता है कुन्दन !
ऐसे, मानो ओस के प्रभा-मण्डल से घिरा हुआ
पार की धूप में चमक उठता है
सवेरे का फूल !
अरे ओ ढीठ पवन, मत कँपा इस वल्ली को
नयी धूप में विकसने दे—
छोटी-छोटी लहरों को
मूँगे की-सी झाँई देते
पाँवों की छाँव में मेरा मन बसने दे।
(झील की कोखों से जहाँ झाँकते थे
भाप के सोना-मढ़े छल्ले
वहाँ अब मँडराता है घना नीला कुहरा···)

हिम-शिखर की तलहटी में
निर्जन झुरमुट,
बीच में तिरछी किरणों-बुना आसन :
आस-पास साँस रोके-सा झुटपुट।
एक लय है ऊपर, पत्तियों के मर्मर की,
एक लय भीतर, घनी, तीव्रतर साँसों की—
कैसा है यह संगीत जो पहले कभी सुना नहीं !
सुनो ! नहीं अभी नहीं—सुना तो
सब दूसरा हो जायेगा !

तो दूसरा ही हो—वरंच दूसरा तो हो चुका !—
क्या अभी वही हो तुम ? क्या वही हूँ—क्या हूँ भी मैं ?
यों—क्या जाने क्या हमसे बना, क्या बना नहीं;
किरणों का आसन सिमट गया,
सिहरन बची रही;
पीछे झुटपुटे ने झुरमुट से
न जाने क्या कही या नहीं कही !
पर हिम-शिखर हमारे साथ आया
बल्कि चाँदनी का एक मौर लाया
जो उसने तुम्हारे गले डाल दिया
और जिसे मैं ताका किया, ताका किया
भोर तक :
जिसे छूने बढ़ी मेरी उँगलियाँ तो सकुचीं,
फिर रोमावली के साथ वह आयीं
भुजा से तुम्हारी उँगलियों के छोर तक—
फिर गुँथे हाथ
और गूँजा संगीत वही
फिर एक बार—
दुर्निवार···
काली पड़ गयीं क़तारें : लाल हो कर सूख भी चलीं बेलें।
उतर चुके अंगूर—गुच्छे के गुच्छे—
हो चुके पेराई के मेले।)

आग के कितने रूप
बसे हैं मेरे मन में !
एक आग जो पकाती है
एक जो मीठा घाम है,
एक जो आँखों में सुलगती है

एक जो झुलसाती है
एक जो साक्षी है
एक जो सहलाती है, अदृश्य बल देती है, जो न हो तो हम
रीते हैं,
एक जो उलटे धौंकनी को चलाती है, जिसे हम हर साँस
के साथ पीते हैं,
एक जिस की सोंधी खुदबुद बताती है
कि सपने जहाँ हैं, हैं,
पर एक धरती है जिस पर हम टिके हैं, चलते हैं, जीते हैं···

आग के कितने-कितने रूप !
ये सभी हमने जलायी थीं
साथ-साथ,
सब में हम जले थे,
साथ-साथ,
सोचा था कि ऐसा होगा,
चाहा था कि ऐसा हो,
—पर क्या चाहा था ?
कि एक मीठी सिगड़ी हो हमारे हाथों में
या कि एक जलता टीका हो हमारे माथों पर ?
(झील की कोखों में जमता है घना नीला कुहरा
मनहूस, बाँझ सन्नाटे को करता और गहरा···)
हमारे मिले हाथों के सम्पुट में
हम ने देखा जीवन को पनपते,
कन्धे से कन्धा जोड़, हाथ गहे
हमने सहा
ओठों पर अन्तिम साँसों को कँपते—
आग का साक्ष्य ? कितने साक्ष्य !

हमारा निजी अनुभव का साक्ष्य
जीवन-मरण का !

(उतर चुके अंगूर—गुच्छे के गुच्छे,
तोड़ लिये गये हैं सब सेब, सूनी हैं डालें···
हो चुके पहली पेराई के मेले
लाल हो कर काली भी पड़ गयी बग़ीचों की क़तारें :
उतर चुके अंगूर : सूख गयीं बेलें ।)
काली पड़ गयी आग । धुँधली पड़ गयी साख
उस की और हमारी !
थक जाती है याद भी ढोते, उड़ाते, परत पर परत राख
जब तक कि मिले कहीं सुलगती चिनगारी !

झील की कोख से उमड़ कर फैल जाता है कुहरा
मनहूस, बाँझ सन्नाटा होता जाता है और, और गहरा !
सूख चुकीं घासें, नुच चुके पेड़-पात,
नंगी हो चट्टानें भी धुन्ध में दुबक गयीं ।
और अब कहाँ है प्रकाश, या आकाश ?
वही मनहूसियत उस पर भी पुत गयी ।
रात, रात, रात, रात,
ठिठुरन—संवत्सर के मरने की कालिमा
सब कुछ ढँक गयी···

जो रचा नहीं

दिया सो दिया
उस का गर्व क्या, उसे याद भी फिर किया नहीं।
पर अब क्या करूँ
कि पास और कुछ बचा नहीं
सिवा इस दर्द के
जो मुझ से बड़ा है—इतना बड़ा है कि पचा नहीं—
बल्कि मुझ से अँचा नहीं—
इसे कहाँ धरूँ
जिसे देनेवाला भी मैं कौन हूँ
क्योंकि वह तो एक सच है
जिसे मैं तो क्या रचता—
जो मुझी में अभी पूरा रचा नहीं !

एक दिन चुक जायगी ही बात

बात है :
चुकती रहेगी
एक दिन चुक जायगी ही—बात।
जब चुक चले तब
उस विन्दु पर
जो मैं बचूँ
(मैं बचूँगा ही !)
उस को मैं कहूँ—
इस मोह में अब और कब तक रहूँ ?

चुक रहा हूँ मैं।
स्वयं जब चुक चलूँ
तब भी बच रहे जो बात—
(बात ही तो रहेगी !)
उसी को कहूँ :
यह सम्भावना—
यह नियति—कवि की
सहूँ।
उतना भर कहूँ :
—इतना कर सकूँ
जब तक चुकूँ !

मन बहुत सोचता है

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय ?

शहर के दूर के तनाव-दबाव कोई सह भी लें,
पर यह अपने ही रचे एकान्त का दबाव सहा कैसे जाय !

नील आकाश, तैरते-से मेघ के टुकड़े,
खुली घासों में दौड़ती मेघ-छायाएँ,
पहाड़ी नदी : पारदर्श पानी,
धूप-धुले तल के रंगारंग पत्थर,
सब देख बहुत गहरे कहीं जो उठे,
वह कहूँ भी तो सुनने को कोई पास न हो—
इसी पर जो जी में उठे वह कहा कैसे जाय !

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो, न हो,
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय !

धड़कन धड़कन

धड़कन धड़कन धड़कन—
दायीं, बायीं, कौन आँख की फड़कन—
मीठी कड़वी तीखी सोठी
कसक-किरकिरी किन यादों का रड़कन ?
उँह ! कुछ नहीं, नशे के झोंके-से में
स्मृति के शीशे की तड़कन !

जिस में मैं तिरता हूँ

कुछ है
जिस में मैं तिरता हूँ।
जब कि आस-पास
न जाने क्या-क्या झिरता है
जिसे देख-देख मैं ही मानों
कनी-कनी किरता हूँ।

ये जो डूब रहे हैं धीरे-धीरे
यादों के खँडहर हैं।
अब मैं नहीं जानता किधर द्वार हैं
किधर आँगन, खिड़कियाँ, झरोखे;
पर ये सब मेरे ही बनाये हुए घर हैं।

इतना तो अब भी है
कि चाहूँ तो पहचान लूँ
कि कौन इन में बसते थे,
(मैंने ही तो बसाये थे,
मेरे इशारों पर हँसते थे),
पर उन के चेहरों और मेरी चाहों के बीच
आह, कितने पुराने, अन्धे, पर आज भी अथाह डर हैं!

डूबते हैं, डूब जाने दो।
चेहरों और घरों के साथ

खाइयों और डरों को भी
लय पाने दो ।
यह जो नदी है, यों तो मेरी अनजानी है
इतनी-भर देखी है कि पहचानूं, बहुत पुरानी है ।

डूबे, सब डूब जाय,
तब एक जो बुल्ला उठेगा,
उभर कर फूटेगा,
और उस की रंगीनी का रहेगा—
क्या ? कुछ नहीं !
तभी तो मेरा यह बचा हुआ भरम टूटेगा
यह सँचा हुआ, पर सच में सत्त्वहीन
अहम् ढहेगा, ढहेगा ।

सम्पराय

हाँ, भाई,
वह राह
मुझे मिली थी;
कुहरे में जैसी दी मुझे दिखाई
मैंने नापी : धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे—
आज जहाँ हूँ, वही वहाँ तक लायी।

यहाँ चुक गयी डगर :
उलहना नहीं, मानता हूँ पर
आज वहीं हूँ जहाँ कभी था—
एक कुहासे की देहरी पर :
दीख रहा है
पार
रूप—रूपायमान—रूपायित—
पहचाना कुछ : जिधर फिर बढ़ूँ—
धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे,
हठ धर,
मन में भर
उछाह !

कौन कभी फिर लौट वहाँ आया, जिस पथ से
एक बार वह पार गया है ?

नहीं, वही वहीं है कहीं और :
यह ठौर
नया है उतना ही जितनी यह राह,
कुहासा, देश-दिशा, यह समय-बिन्दु,
यह मैं भी :
सभी नया है—
नाता ही एक नहीं बदला :
वह एक खोजता राही
एक कुहासे की देहरी पर
लीक धरे पहचाने कुछ-कुछ की
बढ़ता हठ धर
अनजाने कुछ की ओर
भरे मन में उत्साह अतर्कित, निराधार !

रूप,
रूपायमान,
रूपायित ।
यों गृहीत,
पहचाना ।
फिर इस लिए अनृत
एकान्त झूठ !

वह कैसे होती यात्रा
जो पहुँचा कर चुक जाती ?
झूठा होगा वह तीर्थ
सरोवर, नदी, महासागर का जो किनारा-भर होता ।
जहाँ से अपने ही संकल्प
न बन जाते ललकार
नये अनजाने पानी में घुसने की ।

ये सम्मुख फूल बहे जाते हैं :
पर क्या जाने वे किस के हैं ?
क्या जाने वह डूबा, तैरा,
या तट पर ही फूल डाल कर लौट गया ?
या—क्या जाने ?—ये फूल स्वयं उस की भस्मी के ही
प्रतीक हैं ?

यह भी हो सकता है
कोई इस देहरी पर ही बैठ रहे :
जो आयें उन्हें असीसे,
जायें तो, उन्हें बता दे वे पहचाने गलियारे
जो पार स्वयं वह कर आया ।

हो सकता है : पर मेरे द्वारा नहीं—
अब नहीं ।
मैं जिस देहरी पर हूँ
तीर्थ नहीं,
वह सम्पराय है ।
हठ में कमी नहीं है,
मेरा संकल्प भी डगमग,
किन्तु (उलहना नहीं) मानता हूँ मैं—
मुझे पूछना है अब—और खोज़ता हूँ उस को जिस से
यह पूछ सकूँ—

'वह दीख रहा है पार मुझे,
पर बोलो,
उस तक जाने का क्या है उपाय—
है क्या उपाय ?

रूप :
रूप,
रूपायमान,
रूपायित ।
स्पृष्ट । अनृत ।
प्रव्रजित !

और कहाँ तक यही अनुक्रम !
कितना और कुहासा
कितनी देहरियों पर कितनी ठोकर ?
कितना हठ ?
कितने-कितने मन—कितना उछाह ?'

है राह !
कुहासे तक ही नहीं, पार देहरी के । है ।
मैं हूँ तो वह भी है,
तीर्थाटन को निकला हूँ
काँधे बाँधे हूँ लकड़ियाँ चिता की :
गाता जाता हूँ—
'है, पथ है :
वह जो रुक जाता है कूल-कूल पर बार-बार-
यों नहीं कि वह चुक जाता है :
पर तीर्थ यही तो होते हैं—
अनजाने—यद्यपि वांछित—सम्पराय :
हम होते ही रहते हैं वहाँ पार !'

अंगार

एक दिन रुक जायगी जो लय
उसे अब और क्या सुनना ?
व्यतिक्रम ही नियम हो तो
उसी की आग में से
बार-बार, बार-बार
मुझे अपने फूल हैं चुनना ।
चिता मेरी है : दुःख मेरा नहीं ।
तुम्हारा भी बने क्यों, जिसे मैंने किया है प्यार ?
तुम कभी रोना नहीं; मत
कभी सिर धुनना ।
टूटता है जो उसे भी, हाँ, कहो संसार
पर जो टूट को भी टेक दे, ले धार, सहार,
उस अनन्त, उदार को
कैसे सकोगे भूल—
उसे, जिस को वह चिता की आग
है, होगी, हुताशन—
जिसे कुछ भी, कभी, कुछ से नहीं सकता मार—
वही लो, वही रखो साज-सँवार—
वह, कभी बुझने न वाला
प्यार का अंगार !

फाल्गुन शुक्ला सप्तमी, सं० २०२२]
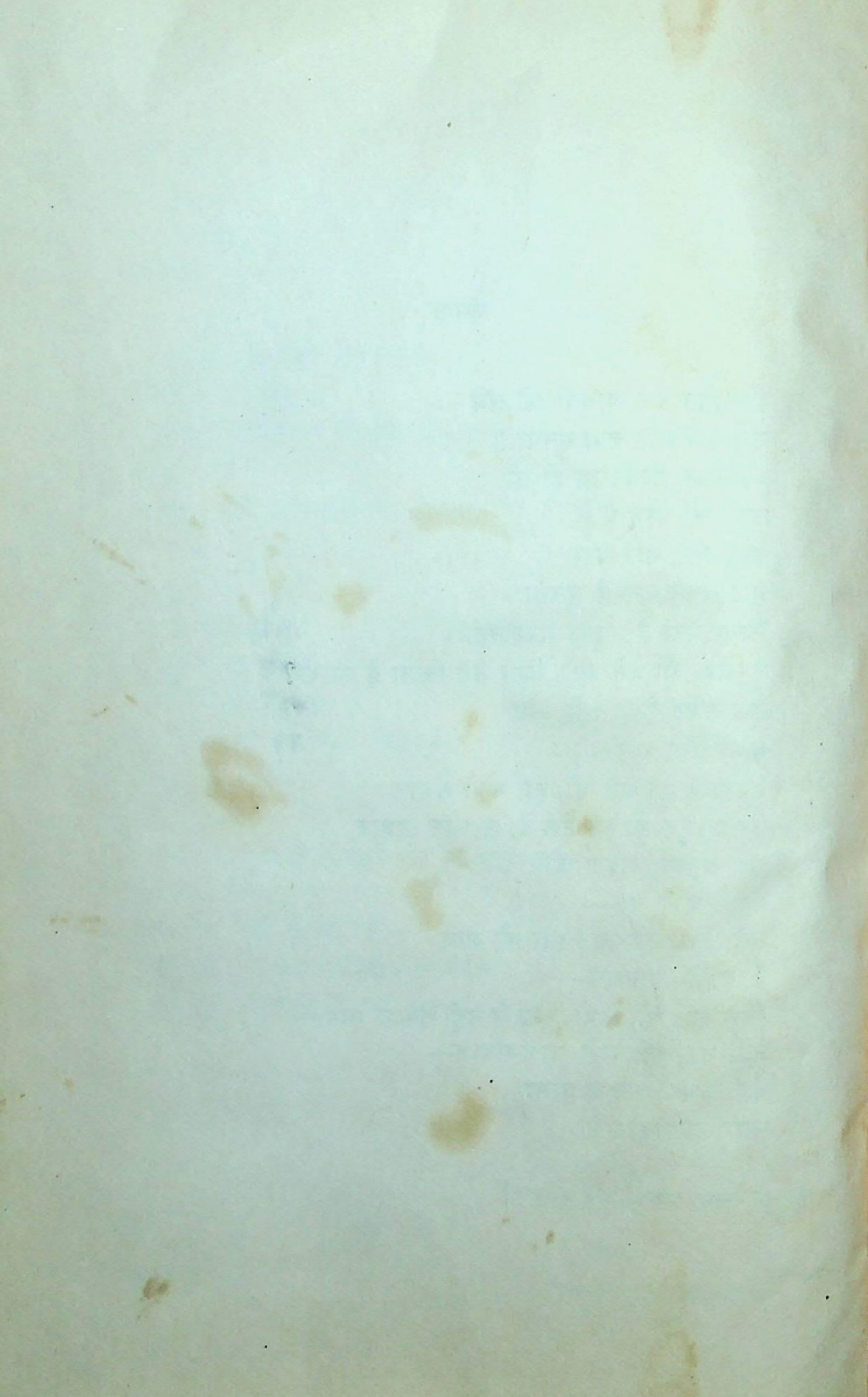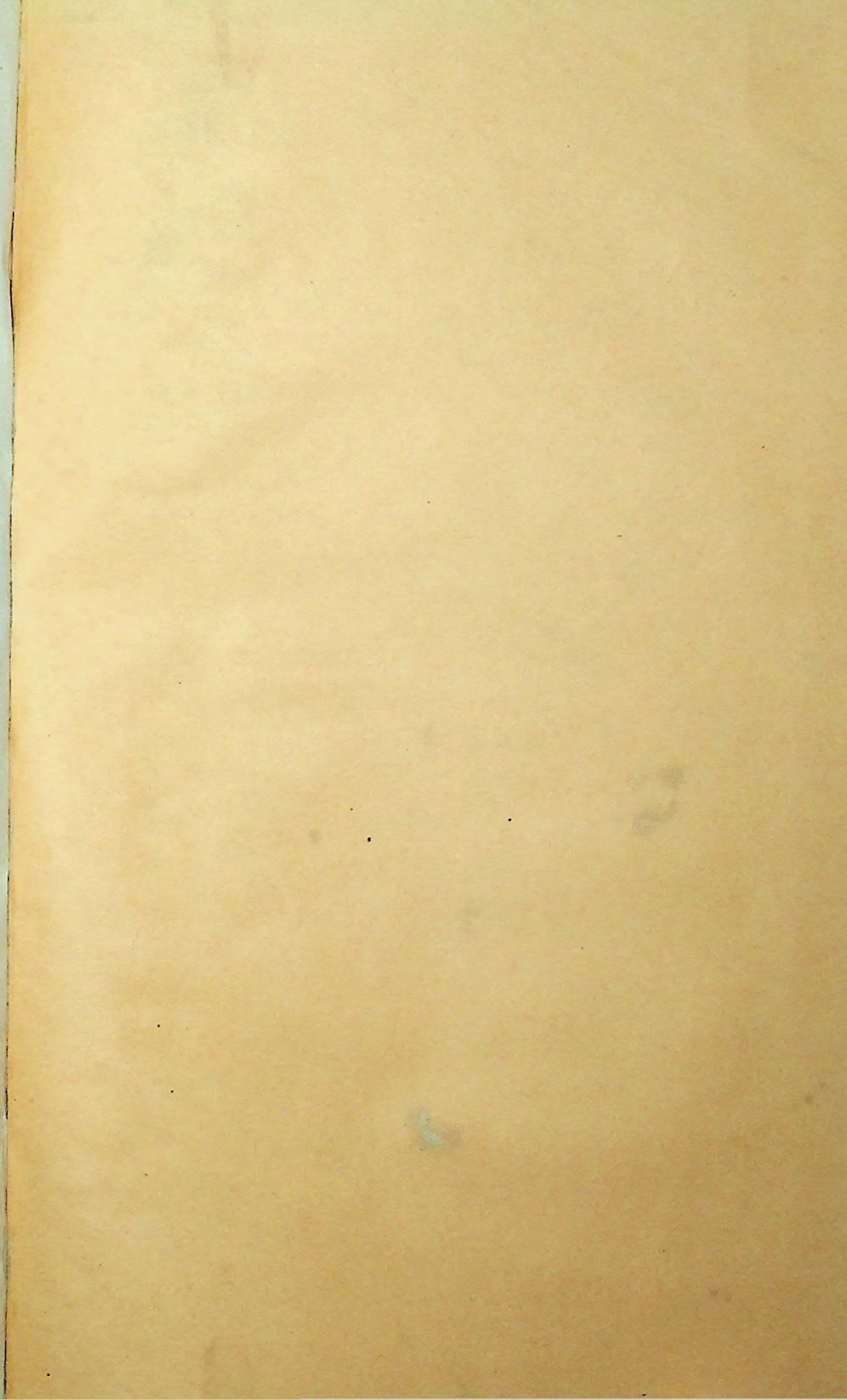
इस आस्था-प्रेरित सत्योन्मुख यात्रा की एक प्रतिपक्षी, प्रतिगामी यात्रा भी है जहाँ 'डगमग नाव' नहीं 'जगमग जहाज' है, जहाँ 'तुम्हारी ओर' निकट आने की प्रक्रिया के विरुद्ध 'दूरदेश की बेदर्द हवाओं में' खींच लिये जाने की विवशता है, जहाँ—

नंगे अँधेरों को
और भी उघाड़ता रहता है
एक नंगा, तीखा, निर्मम प्रकाश
जिस में कोई प्रभा-मण्डल नहीं बनते
केवल चौंधियाते हैं तथ्य, तथ्य—तथ्य
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ।

लेकिन 'रूपकल्पी आग' में सत्य की प्रतिमा ढालने वाला यह साक्षी कवि मानों 'आविष्ट जिह्वा' से बोलता है—

मेरे ही दाह का हुताशन हो साक्षी मेरा!

क्यों कि वह कृतसंकल्प है कि—

मेरे हर सुख में
हर दर्द में, हर यत्न, हर हार में,
हर साहस, हर आघात के हर प्रतिकार में
धड़के नारायण! तेरी वेदना
जो गति है मनुष्य मात्र की!

मनुष्य की गति और उसकी नियति की ऐसी पकड़ समकालीन हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है।

कितनी नावों में कितनी बार को सन् १९७८ के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

पाठकों को समर्पित है इस का यह नवीन संस्करण—पाँचवाँ संस्करण।

ज्ञानपीठ पुरस्कार(१९७८) से सम्मानित

'अज्ञेय'